

सम्पादकीय

नियमसार : एक अनुशीलन

(गतांक से आगे...)

इसके बाद टीकाकार मुनिराज आठ छन्द लिखते हैं; जिनमें तीन श्लोक, दो मालिनी, दो शिखरिणी एवं एक पृथ्वी है।

उक्त आठ छन्दों में से पहला छन्द इसप्रकार है -

(मालिनी)

त्रसहतिपरिमुक्तं स्थावराणां वधैर्वा

परमजिनमुनीनां चित्तमुच्चैरजस्रम् ।

अपि चरमगतं यन्निर्मलं कर्ममुक्त्यै

तदहमभिनमामि स्तौमि संभावयामि ॥२०४॥

(हरिगीत)

जिन मुनिवरों का चित्त नित त्रस-थावरों के त्रास से।

मुक्त हो सम्पूर्णतः अन्तिम दशा को प्राप्त हो॥

उन मुनिवरों को नमन करता भावना भाता सदा।

स्तवन करता हूँ निरन्तर मुक्ति पाने के लिए॥२०४॥

जिन परम जिन मुनियों का चित्त त्रस जीवों के घात और स्थावर जीवों के वध से अत्यन्त मुक्त है, निर्मल है तथा अन्तिम अवस्था को प्राप्त है; कर्मों से मुक्त होने के लिए मैं उन मुनिराजों को नमन करता हूँ, उनकी स्तुति करता हूँ और उन्हें सम्यक् रूप से भाता हूँ, वैसा बनने की भावना करता हूँ।

इस छन्द का भाव गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ यह ध्यान रखना कि पर को नमस्कार करने का जो विकल्प है वह विकल्प मुक्ति का कारण नहीं है। मुक्ति तो अन्तरंग ज्ञातादृष्टा स्वभाव से चैतन्यमूर्ति निज भगवान आत्मा के भानपूर्वक प्रगट हुई वीतरागता से ही होती है। इसलिए ऐसे मुनि को मैं नमस्कार करता हूँ, उनका ही स्तवन करता हूँ और सम्यक्प्रकार से भावना भाता हूँ।

अहो ! ऐसे मुनि भगवंत का मुझे नित्य समागम हो तथा मेरे अन्दर में ऐसी ही वीतरागता प्रगट हो - यही भावना है।”

उक्त छन्द में त्रस-स्थावर जीवों की हिंसा से विरक्त चित्तवाले मुनिराजों को

अत्यन्त भक्तिभावपूर्वक नमस्कार किया गया है, उनकी स्तुति करने की भावना व्यक्त की गई है और उसीप्रकार के परिणाम होने की संभावना भी व्यक्त की गई है।

इसके बाद तीन श्लोक (अनुष्टुप्) हैं, जो इसप्रकार हैं -

(अनुष्टुभ्)

केचिदद्वैतमार्गस्थाः केचिद् द्वैतपथे स्थिताः ।

द्वैताद्वैतविनिर्मुक्तमार्गे वर्तामहे वयम् ॥२०५॥

कांक्षन्त्यद्वैतमन्येपि द्वैतं कांक्षन्ति चापरे ।

द्वैताद्वैतविनिर्मुक्तमात्मानमभिनौम्यहम् ॥२०६॥

अहमात्मा सुखाकांक्षी स्वात्मानमजमच्युतम् ।

आत्मनैवात्मनि स्थित्वा भावयामि मुहुर्मुहुः ॥२०७॥

(दोहा)

कोई वर्ते द्वैत में अर कोई अद्वैत ।

द्वैताद्वैत विमुक्तमग हम वर्ते समवेत ॥२०५॥

कोई चाहे द्वैत को अर कोई अद्वैत ।

द्वैताद्वैत विमुक्त जिय मैं वंदूँ समवेत ॥२०६॥

(सोरठा)

थिर रह सुख के हेतु अज अविनाशी आत्म में ।

भाऊँ बारबार निज को निज से निरन्तर ॥२०७॥

कई लोग अद्वैत मार्ग में स्थित हैं और कई लोग द्वैत मार्ग में स्थित हैं; परन्तु हम तो द्वैत और अद्वैत मार्ग से विमुक्त मार्ग में वर्तते हैं।

कई लोग अद्वैत की चाह करते हैं और कई लोग द्वैत को चाहते हैं, किन्तु मैं तो द्वैत और अद्वैत मार्ग से विमुक्त मार्ग को नमन करता हूँ।

सुख की आकांक्षा रखनेवाला आत्मा अर्थात् मैं अजन्मे और अविनाशी अर्थात् जन्म-मरण से रहित अनादि-अनंत निज आत्मा को आत्मा द्वारा, आत्मा में स्थित रखकर बारम्बार भाता हूँ।

उक्त छन्दों का भाव गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“‘मैं एक अद्वैत हूँ’ - ऐसा विकल्प वह राग है तथा ‘मैं गुणी और ज्ञान आदि मेरे गुण हैं’ - इसप्रकार द्वैत का विकल्प वह भी राग है - ये दोनों विषमभाव हैं। द्वैत-अद्वैत दोनों के विकल्प से रहित होकर मैं तो चैतन्य में वर्तता हूँ। विकल्परहित स्थिरभाव ही सामायिक है - यह बात इस श्लोक में कही है।^१

मैं द्वैत-अद्वैत के विकल्प की भावना नहीं भाता हूँ। मैं तो द्वैत-अद्वैत के

विकल्प के राग से रहित शुद्ध आत्मा को ही नमस्कार करता हूँ - भाता हूँ; शुद्ध आत्मा में ही परिणमता हूँ।

‘शुद्ध आत्मा की इच्छा करता हूँ’ - ऐसा नहीं कहा, परन्तु ‘शुद्ध आत्मा को नमस्कार करता हूँ - शुद्ध आत्मा में नमता हूँ अर्थात् उसमें ही एकाग्र होता है’ - ऐसा कहा। बाहर में भगवान को नमस्कार करने का भाव पुण्य है, उसे भगवान ने सामायिक नहीं कहा है। भगवान ने तो चैतन्यस्वरूप वीतराग भाव में स्थिर होने को ही सामायिक कहा है।^१

जिसप्रकार ओखली तो स्थिर रहती है और मूसल बारंबार पलटता अर्थात् ऊपर-नीचे आता जाता है, उसीप्रकार चैतन्य में ध्रुवस्वभाव तो स्थिर रहता है और पर्यायें बारंबार पलटती हैं। उस पर्याय के द्वारा मैं बारंबार चैतन्यस्वभाव की भावना भाता हूँ। चैतन्यस्वभाव की भावना का नाम ही सामायिक है तथा यह सामायिक ही मुक्ति का कारण है।^२”

उक्त तीनों छन्दों में द्वैत और अद्वैत के विकल्पजाल से मुक्त भगवान आत्मा को प्राप्त करने की भावना भायी गयी है।

इसके बाद आनेवाले दो शिखरिणी छन्द इसप्रकार हैं -

(शिखरिणी)

विकल्पोपन्यासैरलमलममीभिर्भवकरैः

अखण्डानन्दात्मा निखिलनयराशेरविषयः ।

अयं द्वैताद्वैतो न भवति ततः कश्चिदचिरात्
तमेकं वन्देऽहं भवभयविनाशाय सततम् ॥२०८॥

सुखं दुःखं योनौ सुकृतदुरितव्रातजनितं

शुभाभावो भूयोऽशुभपरिणतिर्वा न च न च ।

यदेकस्याप्युच्चैर्भवपरिचयो बाढमिह नो

य एवं संन्यस्तो भवगुणगणैः स्तौमि तमहम् ॥२०९॥

(हरिगीत)

संसार के जो हेतु हैं इन विकल्पों के जाल से।

क्या लाभ है हम जा रहे नयविकल्पों के पार अब ॥

नयविकल्पातीत सुखमय अगम आतमराम को।

वन्दन करूँ कर जोड़ भवभय नाश करने के लिए ॥२०८॥

अच्छे बुरे निजकार्य से सुख-दुःख हों संसार में।

पर आत्मा में हैं नहीं ये शुभाशुभ परिणाम सब ॥

क्योंकि आत्मराम तो इनसे सदा व्यतिरिक्त है।

स्तुति करूँ मैं उसी भव से भिन्न आत्मराम की ॥२०९॥

संसार को बढ़ानेवाले इन विकल्प कथनों से बस होओ, बस होओ। समस्त नयसमूह का अविषय यह अखण्डानन्दस्वरूप आत्मा द्वैत या अद्वैतरूप नहीं है; द्वैत और अद्वैत संबंधी विकल्पों से पार है।

इस एक निज आत्मा को मैं भवभय का नाश करने के लिए बारम्बार वंदन करता हूँ।

संसार में चार गति और ८४ लाख योनियों में होनेवाले सुख-दुख, पुण्य-पाप से होते हैं। यदि निश्चयनय से विचार करें तो शुभ और अशुभपरिणति आत्मा में है ही नहीं; क्योंकि इस लोक में एकरूप आत्मा को भव (संसार) का परिचय ही नहीं है।

इसलिए मैं शुभ-अशुभ, राग-द्वेष आदि भव गुणों अर्थात् विभावभावों से रहित निज शुद्ध आत्मा का स्तवन करता हूँ।

उक्त दो छन्दों का भाव गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“आत्मा तो अखण्ड आनन्दस्वरूप विकल्पातीत है, समस्त विकल्पों से अगोचर है तथा स्वभाव से स्वयं सिद्ध अखण्ड आनन्द की मूर्ति है।^१

आत्मा तो द्वैत-अद्वैत के विकल्प से पार अवर्णनीय है। यहाँ अवर्णनीय कहने से सर्वथा अवर्णनीय नहीं समझना चाहिए; क्योंकि आत्मा वाणी से कथंचित् कहा भी जाता है; परन्तु वह वाणी के द्वारा पकड़ने में नहीं आता, इसलिए उसे यहाँ अवर्णनीय कहा है।

शीघ्र भव-भय का नाश करने के लिए मैं ऐसे एक आत्मा का अन्तर से सत्कार करता हूँ - आदर करता हूँ - नमस्कार करता हूँ, इसका नाम सामायिक है।^२

आत्मा तो पुण्य-पाप रहित है, उसे निश्चय से चार गति का भ्रमण नहीं है, उसके स्वभाव में भव नहीं है - ऐसे स्वभाव को स्वीकार करते ही - प्रतीति में लेते ही सम्यक्त्व प्रगट होता है, तत्पश्चात् ही सामायिक होता है। यदि तुझे सामायिक करनी है तो ऐसे त्रिकाली आत्मा की प्रतीति कर - उसका परिचय कर; निश्चय से देखा जाय तो चिदानन्द स्वरूप आत्मा में शुभ-अशुभ परिणति का तो अभाव ही है।^३

उन समस्त विकारी भावों की वासना का चैतन्यस्वरूप में त्याग है। ऐसे शुद्ध चैतन्यस्वरूप का मैं स्तवन करता हूँ - आदर करता हूँ - उसी में स्थिर होता हूँ। इसप्रकार शुद्धात्मा का स्तवन ही वास्तविक सामायिक है।^४”

इन छन्दों में भी वही द्वैत-अद्वैत के भेदभावों से रहित आत्मा के आराधना की बात कही गई है।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०४५

२. वही, पृष्ठ १०४५

३. वही, पृष्ठ १०४७

४. वही, पृष्ठ १०४७

इसके बाद आनेवाले दो छन्द इसप्रकार हैं -

(मालिनी)

इदमिहमघसेनावैजयन्तीं हरेत्तां
स्फुटितसहजतेजःपुंजदूरीकृतांहः ।

प्रबलतरतमस्तोमं सदा शुद्धशुद्धं
जयति जगति नित्यं चिच्चमत्कारमात्रम् ॥२१०॥

(पृथ्वी)

जयत्यनघमात्मतत्त्वमिदमस्तसंसारकं
महामुनिगणाधिनाथहृदयारविन्दस्थितम् ।

विमुक्तभवकारणं स्फुटितशुद्धमेकान्ततः
सदा निजमहिम्नि लीनमपि सद्दृशां गोचरम् ॥२११॥

(हरिगीत)

प्रगट अपने तेज से अति प्रबल तिमिर समूह को।

दूर कर क्षणमात्र में ही पापसेना की ध्वजा ॥

हरण कर ली जिस महाशय प्रबल आत्मराम ने।

जयवंत है वह जगत में चित्त्वमत्कारी आत्मा ॥२१०॥

गणधरों के मनकमल थित प्रगट शुद्ध एकान्ततः।

भवकारणों से मुक्त चित् सामान्य में है रत सदा ॥

सद्दृष्टियों को सदागोचर आत्ममहिमालीन जो।

जयवंत है भव अन्तकारक अनघ आत्मराम वह ॥२११॥

प्रगट हुए सहज तेजपुंज द्वारा, अति प्रबलमोहतिमिर समूह को दूर करनेवाला तथा पुण्य-पापरूपी अघसेना की ध्वजा का हरण करने वाला सदा शुद्ध, चित्त्वमत्कार मात्र आत्मतत्त्व जगत में नित्य जयवंत है।

जिसने संसार का अस्त किया है, जो महामुनिराजों के नायक गणधरदेव के हृदय कमल में स्थित है, जिसने भव के कारण को छोड़ दिया है, जो पूर्णतः शुद्ध प्रगट हुआ है तथा जो सदा निजमहिमा में लीन होने पर भी सम्यग्दृष्टियों को गोचर है; वह पुण्य-पाप से रहित आत्मतत्त्व जयवंत है।

इन छन्दों का भाव गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“अहो ! आत्मा चैतन्यचमत्कारमात्र तत्त्व सदा शुद्ध-शुद्ध है। त्रिकाली द्रव्य तो शुद्ध है ही, उसके साथ कारणरूप पर्याय भी त्रिकाल शुद्ध है। ऐसा महिमावंत चैतन्यचमत्कार तत्त्व जगत में सदा जयवंत वर्तता है। जहाँ चैतन्य चमत्कार है, वहाँ नमस्कार करो।^१

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०४८

मुनिराज कहते हैं कि तुम्हारे अन्तर में जो सहज चैतन्य-स्वरूप निजतत्त्व वर्त रहा है, उसका अनुभव करो। तुम्हारे अन्दर में ही जो परमात्मशक्ति भरी है, तुम उसी को देखो - उसी को अनुभवो।^१

आत्मतत्त्व अन्तर में सहज शुद्ध ज्यों का त्यों विराजमान है तथा सम्यग्दृष्टि आदि समस्त धर्मात्माओं के ज्ञानगोचर है, इन्द्रिय गोचर नहीं है।^२

इस समाधि अधिकार में सामायिक का वर्णन करके यह बता दिया है कि समाधि और सामायिक दो भिन्न-भिन्न नहीं हैं, परन्तु एक ही हैं। चैतन्य को लक्ष्य में लेकर उसमें एकाग्र होने पर जो परम वीतरागी शान्ति का अनुभव होता है, वही सामायिक है और वही समाधि (समता) है।^३”

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि लोक में तो अघ पाप को कहते हैं, पर आप यहाँ अघ का अर्थ पुण्य-पाप के भाव कर रहे हैं। इसका क्या कारण है ?

यद्यपि लोक में अघ शब्द का अर्थ मात्र पाप किया जाता है; तथापि जिसप्रकार क का अर्थ पृथ्वी, ख का अर्थ आकाश होता है; उसीप्रकार घ का अर्थ भी आत्मा होता है। अतः आत्मा के आश्रय से उत्पन्न वीतरागभाव के अभावरूप शुभाशुभरागरूप पुण्य-पाप के भाव अघ कहे जाते हैं। इसप्रकार पुण्य-पाप - दोनों अघ हैं।

इसप्रकार इन आठ छन्दों में अत्यन्त भावविभोर होकर सहज-वैराग्यरूपी महल के शिखर के शिखामणि टीकाकार मुनिराज श्रीपद्म-प्रभमलधारिदेव निजकारणपरमात्मा के आश्रय की भावना व्यक्त कर रहे हैं।

नियमसार गाथा १२७

इस गाथा में भी यही बता रहे हैं कि एकमात्र आत्मा ही उपादेय है।

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

जस्स सण्णिहिदो अप्पा संजमे णियमे तवे।

तस्स सामाङ्गं ठाड़ इदि केवलिसासणे ॥१२७॥

(हरिगीत)

आतमा है पास जिनके नियम-संयम-तप विषैं।

उन आत्मदर्शी संत को जिन कहें सामायिक सदा ॥१२७॥

जिसे संयम में, नियम में, तप में आत्मा ही समीप है; उसे सामायिक स्थायी है - ऐसा केवली के शासन में कहा है।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ इस गाथा में भी आत्मा ही उपादेय है - ऐसा कहा गया है।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०५०

२. वही, पृष्ठ १०५१

३. वही, पृष्ठ १०५१

बाह्य प्रपंच से पराङ्गमुख और समस्त इन्द्रियव्यापार को जीतनेवाले जिस भावी जिन को पापक्रिया की निवृत्तिरूप बाह्य संयम में; काय, वचन और मनोगुप्तिरूप समस्त इन्द्रियव्यापार रहित अभ्यन्तर संयम में; मात्र सीमित काल के नियम में; निजस्वरूप में अविचल स्थितिरूप चिन्मय परमब्रह्मस्वरूप में निश्चल आचार में; व्यवहार से विस्तार से निरूपित पंचाचार में; पंचमगति के हेतुभूत, सम्पूर्ण परिग्रह से रहित, समस्त दुराचार की निवृत्ति के कारणभूत परमतपश्चरण में परमगुरु के प्रसाद से प्राप्त निजकारणपरमात्मा सदा समीप है; उन परद्रव्य से पराङ्गमुख परम वीतराग सम्यग्दृष्टि एवं वीतराग चारित्रवन्त को सामायिक व्रत स्थायी है - ऐसा केवलियों के शासन में कहा है।”

इस गाथा के भाव को गुरुदेवश्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“तात्पर्य यह है कि अभ्यन्तर संयम तो निज कारणशुद्धात्मा की समीपता-सन्निकटता में होता ही है, परन्तु बाह्यसंयम भी निज कारणशुद्धात्मा की समीपता-सन्निकटता पूर्वक ही होता है। यदि एक समय के लिए भी अन्तर में शुद्धात्मा का आश्रय छूट जाये तो फिर बाह्य अथवा अभ्यन्तर कोई भी संयम नहीं रहता।^१

जो जीवनपर्यन्त के लिए होते हैं उसे यम कहते हैं; जैसे - महाव्रतादि। तथा जिसमें काल की मर्यादा होती है, उसे नियम कहते हैं; जैसे - आहार हेतु पड़गाहने वाला हाथ में थाल और थाल में बादाम लेकर खड़ा हो तो ही आहार लेना, अन्यथा नहीं लेना आदि।

यहाँ तो यह कहते हैं कि ऐसे नियम और यम में भी आत्मा की ही समीपता वर्तती है। इसीप्रकार निजस्वरूप में अविचल स्थितिरूप अन्तरंग-निश्चय आचार में भी आत्मा का ही आश्रय वर्तता है अर्थात् उसकी समीपता कभी नहीं छूटती।

दर्शन के निशंकतादि आठ आचारों में, ज्ञान के विनयादि आठ आचारों में भी एक शुद्धात्मा की ही मुख्यता वर्तती है, विकल्प की मुख्यता नहीं वर्तती। चारित्र, तप, वीर्य आदि आचारों में भी राग की मुख्यता नहीं है; परन्तु एक शुद्धात्मा की ही मुख्यता है, उसी का अवलम्बन है, उसी का आश्रय है।^२”

इस गाथा और उसकी टीका में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि भावलिङ्गी मुनिराजों को होनेवाले अन्तर्बाह्य यम, नियम, संयम, तप आदि सभी भावों में एकमात्र आत्मा की आराधना ही मुख्य रहती है। आत्मा की आराधना से ये सभी सनाथ हैं, उसके बिना इनका कोई अर्थ नहीं है।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छंद लिखते हैं, जो इसप्रकार है-

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०५३-१०५४

२. वही, पृष्ठ १०५३-१०५४

(मंदाक्रान्ता)

आत्मा नित्यं तपसि नियमे संयमे सच्चरित्रे
तिष्ठत्युच्चैः परमयमिनः शुद्धदृष्टेर्मनश्चेत् ।
तस्मिन् बाढं भवभयहरे भावितीर्थाधिनाथे
साक्षादेषा सहजसमता प्रास्तरागाभिरामे ॥२१२॥

(हरिगीत)

शुद्ध सम्यग्दृष्टिजन जाने कि संयमवंत के।
तप-नियम-संयम-चरित में यदि आत्मा ही मुख्य है ॥
तो सहज समताभाव निश्चित जानिये हे भव्यजन।
भावितीर्थकर श्रमण को भवभयों से मुक्त जो ॥२१२॥

यदि शुद्धदृष्टिवाले सम्यग्दृष्टि जीव ऐसा समझते हैं कि परममुनियों के तप में, नियम में, संयम में और सच्चारित्र में सदा एक आत्मा ही ऊर्ध्व रहता है; तो यह सिद्ध होता है कि राग के नाश के कारण उस संसार के भय का हरण करनेवाले भविष्य के तीर्थकर भगवन्त को सहज समता साक्षात् ही है, निश्चित ही है।

छन्द का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“इससे सम्यग्दृष्टी ऐसा समझता है कि राग के नाश को प्राप्त भव-भयहर भावी तीर्थाधिनाथ को यह साक्षात् सहज-समता निश्चित है। देखो, तीर्थकर चारित्र लेने के बाद वापस निचली भूमिका में नहीं आते। तीर्थकर नामकर्म के बँधने के बाद अगले भव में भी सम्यग्दर्शन नहीं छूटता। कोई जीव तीर्थकर नामकर्म के बन्ध के बाद दूसरे या तीसरे नरक में भी जाये तो वहाँ भी मात्र अन्तर्मुहूर्त काल के बाद पुनः सम्यग्दर्शन हो जाता है। तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन का विरह वहाँ भी अधिक काल नहीं होता।

भावी तीर्थकर भवभयहर हैं, इसलिए उन्हें तीर्थकर नामकर्म बँधने के बाद दो भव से अधिक भव धारण नहीं करने पड़ते। - ऐसे भवभय के हरनेवाले भावी तीर्थाधिनाथ को राग के नाशपूर्वक साक्षात् समता अवश्य होती है।^१”

टीका और टीका में समागत उक्त छन्द में यह ध्वनित होता है कि टीकाकार को ऐसा विश्वास है कि वे भविष्य में तीर्थकर होनेवाले हैं; इसकारण ही वे भावि तीर्थनाथ को याद करते हैं; क्योंकि उक्त स्थिति तो सभी तीर्थकरों की होती है; तब फिर वे भावी तीर्थाधिनाथ को दो-दो बार क्यों याद करते हैं।

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०५८

नियमसार गाथा १२८

गाथा मूलतः इसप्रकार है -

जस्स रागो दु दोसो दु विगडिं ण जणेइ दु ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥१२८॥

(हरिगीत)

राग एवं द्वेष जिसका चित्त विकृत न करें।

उन वीतरागी संत को जिन कहें सामायिक सदा ॥१२८॥

जिसे राग या द्वेष विकृति उत्पन्न नहीं करते; उसे सामायिक स्थायी है - ऐसा केवली के शासन में कहा है।

टीकाकार मुनिराज इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यहाँ यह कह रहे हैं कि राग-द्वेष के अभाव से अपरिस्पंदरूपता, समता, अकंपता, अक्षुब्धता होती है।

पापरूपी अटवी (भयंकर जंगल) को जलाने में अग्नि समान जिस परम वीतरागी संयमी को राग-द्वेष विकृति उत्पन्न नहीं करते; उस पाँच इन्द्रियों के विस्तार से रहित, देहमात्र परिग्रहधारी आनन्द के अभिलाषी जीव को सामायिक नाम का व्रत शाश्वत है - ऐसा केवलियों के शासन में प्रसिद्ध है।”

इस गाथा और उसकी टीका का भाव आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप समाधि ही सामायिक है। और ऐसा सामायिक उन्हें होता है, जिन्हें राग-द्वेषरूपी विकृति उत्पन्न नहीं होती। सहज स्वभाव में स्थिर होने पर राग-द्वेष भाव उत्पन्न ही नहीं होते। और राग-द्वेष का उत्पन्न नहीं होना ही सामायिक है।

यहाँ जो अपरिस्पंदता अर्थात् स्थिरतारूप समताभाव कहा है; वह राग-द्वेष के अभावरूप अपरिस्पंदता की बात जानना, योगजनित अपरिस्पंदता की नहीं।^१

जिन संयमी वीतरागी मुनि के राग-द्वेष उत्पन्न ही नहीं होते, उन महा-आनन्द के अभिलाषी जीवों को ही सामायिक व्रत शाश्वत है। उनके ऐसी अतीन्द्रियता प्रगट हो गई है कि उन्हें पाँच इन्द्रियों के विस्तार रहित देहमात्र परिग्रह है। जिनके आत्मा में राग-द्वेषरूप विकृति नहीं है और देह की दिगम्बर दशा में भी विकृति नहीं है - ऐसे महामुनि के स्थायी सामायिक होता है। - ऐसा केवली भगवान के शासन में प्रसिद्ध है।

श्रावक के भी राग-द्वेष रहित चैतन्यस्वभाव की निर्विकल्प प्रतीति पूर्वक जितना

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०५९

भाव प्रगट होता है, उतना सामायिक है; परन्तु चैतन्य की प्रतीति बिना मात्र राग को केवली के शासन में सामायिक नहीं कहा गया है।^१”

इस गाथा और उसकी टीका में मात्र यही कहा गया है कि जिन वीतरागी सन्तों को राग-द्वेष भाव, विकृति उत्पन्न नहीं करते; उन्हें सदा सामायिक ही है।

इस गाथा की टीका पूर्ण करते हुए टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं, जो इसप्रकार है -

(मंदाक्रान्ता)

रागद्वेषौ विकृतिमिह तौ नैव कर्तुं समर्थौ
ज्ञानज्योतिःप्रहतदुरितानीकघोरान्धकारे ।
आरातीये सहजपरमानन्दपीयूषपूरे
तस्मिन्नित्ये समरसमये को विधिः को निषेधः ॥२१३॥

(रोला)

किया पापतम नाश ज्ञानज्योति से जिसने ।

परमसुखामृतपूर आत्मा निकट जहाँ है ॥

राग-द्वेष न समर्थ उसे विकृत करने में ।

उस समरसमय आत्म में है विधि-निषेध क्या ॥२१३॥

जिसने ज्ञानज्योति द्वारा पापसमूह रूप घोर अंधकार का नाश किया है, सहज परमानन्द का पूर जहाँ निकट है; वहाँ राग-द्वेष विकृति करने में समर्थ नहीं हैं। उस शाश्वत समरसभावरूप आत्मतत्त्व में विधि क्या और निषेध क्या ? तात्पर्य यह है कि उसे राग-द्वेष नहीं होते हैं।

इस छन्द का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“जब मुनियों के अन्तर में सहज परमानन्दमय आत्मतत्त्व निकट वर्तता है, तब उनके राग-द्वेषरूप विकृति उत्पन्न ही नहीं होती। राग-द्वेष होते हैं, परन्तु वे विकृति नहीं करते - ऐसा नहीं है; परन्तु स्वरूप का आलम्बन करने से राग-द्वेष उत्पन्न ही नहीं होते। - इसका नाम सामायिक है।

आत्मा नित्य समरसमय शाश्वत तत्त्व है, उपशान्त रस का समुद्र है। उसमें विधि क्या और निषेध क्या? ‘यह करना है और यह छोड़ना है’ - ऐसे विकल्प भी सहज समरसी आत्मतत्त्व में नहीं हैं। इसलिए उस सहजतत्त्व में लीन मुनियों के विधि-निषेध के विकल्परहित साम्यभावरूप सामायिक होता है।^२

स्वरूप में स्थिर होते ही ग्रहण करने योग्य ऐसे निजस्वरूप का ग्रहण हो गया और छोड़ने योग्य - ऐसे राग-द्वेष छूट गये। अतः स्वरूप में विधि-निषेध का क्या काम रहा।

आत्मा के आहार का ग्रहण-त्याग तो है ही नहीं, परन्तु आहार के ग्रहण-त्याग का विकल्प भी आत्मा में नहीं है। ‘यह करने लायक है’ ऐसा राग तथा ‘यह करने लायक नहीं है’ ऐसा द्वेष - दोनों ही वस्तु के स्वरूप में नहीं है।^१”

‘यह ऐसा है या हमें ऐसा करना चाहिए’ - इसप्रकार के विकल्प विधि संबंधी विकल्प हैं और ‘यह ऐसा नहीं है या हमें ऐसा नहीं करना चाहिए’ - इसप्रकार के विकल्प निषेध संबंधी विकल्प हैं।

यह आत्मा स्वभाव से तो विकल्पातीत है ही और पर्याय में भी विकल्पातीतदशा को भी प्राप्त हो गया हो तो फिर उसमें विधि-निषेध संबंधी विकल्पों को अवकाश ही कहाँ रहता है ?

नियमसार गाथा १२९

अब इस गाथा में यह कहते हैं कि जो आर्त और रौद्रध्यान से रहित है; उसे सामायिक सदा ही है। गाथा मूलतः इसप्रकार है -

जो दु अट्टं च रुदं च झाणं वज्जेदि णिच्चसो ।

तस्स सामाङ्गं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥१२९॥

(हरिगीत)

आर्त एवं रौद्र से जो सन्त नित वर्जित रहें।

उन आत्मध्यानी संत को जिन कहें सामायिक सदा ॥१२९॥

जो आर्त और रौद्रध्यान को सदा छोड़ता है; उसे सामायिक व्रत स्थायी है - ऐसा केवली शासन में कहा गया है।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यह आर्त और रौद्रध्यान के परित्याग द्वारा सनातन सामायिक व्रत के स्वरूप का कथन है।

नित्य निरंजन निजकारणपरमात्मा के स्वरूप में नियत, शुद्धनिश्चय परमवीतराग सुखामृत के पान में परायण जो जीव तिर्यंच योनि, प्रेतवास व नरकादि गति की योग्यता के हेतुभूत आर्त व रौद्र - इन दो ध्यानों को नित्य छोड़ता है; उसे वस्तुतः केवलदर्शन सिद्ध शाश्वत सामायिक व्रत है।”

स्वामीजी इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“सामायिक तो एकमात्र आत्मस्वभाव के आश्रय से उत्पन्न हुआ वीतरागी समभाव ही है; परन्तु उसका वर्णन परपदार्थों के त्याग की अपेक्षा भिन्न-भिन्न रूप में किया गया है।

इससे पिछली १२८वीं गाथा में राग-द्वेष भाव के उत्पन्न न होने को सामायिक

कहा था और अब यहाँ आर्त-रौद्र ध्यान के त्याग से उत्पन्न वीतरागी समभाव को सामायिक कहा जा रहा है।^१”

इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, वेदना और निदान के निमित्त से जो खेदरूप परिणाम होते हैं, वे आर्तध्यान हैं और निर्दयता/क्रूरता में होने वाले आनन्दरूप परिणाम रौद्रध्यान हैं। आर्तध्यान को शास्त्रों में तिर्यच गति का कारण बताया गया है और रौद्रध्यान को नरकगति का कारण कहा गया है।^२ यहाँ इनके फल में प्रेतयोनि को भी जोड़ दिया है।

जिनके ये आर्त और रौद्रध्यान नहीं होंगे, उनके धर्मध्यान और शुक्लध्यान होंगे। धर्म और शुक्लध्यान को मोक्ष का कारण कहा गया है।^३ इससे यह सहज ही सिद्ध है कि जिनके आर्त और रौद्रध्यान नहीं होंगे; उनके मोक्षप्राप्ति की हेतुभूत सामायिक सदा होगी ही।

इसके बाद टीकाकार मुनिराज एक छन्द लिखते हैं; जो इसप्रकार है-

(आर्या)

इति जिनशासनसिद्धं सामायिकव्रतमणुव्रतं भवति ।

यस्त्यजति मुनिर्नित्यं ध्यानद्वयमार्तरौद्राख्यम् ॥२१४॥

(सोरठा)

जो मुनि छोड़े नित्य आर्त-रौद्र ये ध्यान दो ।

सामायिकव्रत नित्य उनको जिनशासन कथित ॥२१४॥

इसप्रकार जो मुनिराज आर्त और रौद्र नाम के दो ध्यानों को छोड़ते हैं; उन्हें जिनशासन में कहे गये अणुव्रतरूप सामायिक व्रत होता है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि मुनिराजों की सामायिक (आत्मध्यान) को यहाँ अणुव्रत क्यों कहा जा रहा है ?

उक्त संदर्भ में आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है-

“वीतरागी मुनिराज स्व-विषय के ग्रहणपूर्वक पर-विषय को छोड़ते हैं। स्व-विषय में लीन होने पर उनके आर्त-रौद्र ध्यान के परिणाम उत्पन्न ही नहीं होते - ऐसे वीतरागी मुनिराजों को अणुव्रतरूप सामायिक सदा होता है।

यहाँ अणुव्रत का अर्थ श्रावक के व्रत नहीं है, बल्कि पूर्ण यथाख्यातचारित्र न होने के कारण ही यहाँ मुनिराज के सामायिकव्रत को अणुव्रत कहा गया है। तात्पर्य यह है कि यहाँ आत्मा में पूर्ण लीनता न होने के कारण अपूर्ण - अणुव्रत कहा गया

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०६३

२. आचार्य पूज्यपाद : सर्वार्थसिद्धि, अध्याय ६, सूत्र १५ व १६ की टीका

३. आचार्य पूज्यपाद : सर्वार्थसिद्धि, अध्याय ९, सूत्र २९

है। ग्यारहवें-बारहवें गुणस्थान में सामायिकचारित्र नहीं होता, वहाँ तो यथाख्यात-चारित्र होता है।

यहाँ यथाख्यात परिपूर्ण चारित्र का अभाव है - इस अपेक्षा मुनि के सामायिक को भी अणुव्रत कहा है - ऐसा समझना। - यह अणुव्रत भी वीतरागी हैं, यह शुभरागात्मक व्रतों की बात नहीं है।

तत्त्वार्थसूत्र में जिन व्रतों का वर्णन शुभास्रव के रूप में किया है, यहाँ उनकी बात नहीं है। वह तो शुभराग है और यह तो मोक्ष के कारणरूप निर्विकल्प वीतरागी निश्चयव्रत की बात है।^१”

श्रावकों के बारह व्रतों में एक सामायिक नामक शिक्षाव्रत है और श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाओं में तीसरी प्रतिमा का नाम भी सामायिक है। उनकी चर्चा यहाँ नहीं है।

एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक के जो ग्यारह प्रतिमायें होती हैं; उनमें दूसरी प्रतिमा में बारह व्रत होते हैं। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत - इसप्रकार कुल बारह व्रत होते हैं।

सामायिक नाम का व्रत अणुव्रतों में नहीं है, शिक्षा व्रतों में है। इसलिए यहाँ प्रयुक्त अणुव्रत का संबंध श्रावक के अणुव्रतों से होना संभव ही नहीं है।

जैसा कि आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी ने कहा कि यहाँ उल्लिखित सामायिक व्रत को अणुव्रत यथाख्यातचारित्र की अपेक्षा कहा है। अतः स्वामीजी का यह कथन आगमसम्मत और युक्तिसंगत ही है।

नियमसार गाथा १३०

अब इस गाथा में यह कहते हैं कि पुण्य-पापरूप विकारीभावों को छोड़नेवाले को सदा सामायिक है। गाथा मूलतः इसप्रकार है -

जो दु पुण्यं च पावं च भावं वज्जेदि णिच्चसो ।

तस्स सामाङ्गं ठाड् इदि केवलिसासणे ॥१३०॥

(हरिगीत)

जो पुण्य एवं पाप भावों के निषेधक हैं सदा ।

उन वीतरागी संत को जिन कहें सामायिक सदा ॥१३०॥

जो पुण्य और पापरूप भावों को सदा छोड़ता है, उसे सामायिक स्थायी है - ऐसा केवली के शासन में कहा है।

इस गाथा का भाव टीकाकार मुनिराज इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“यह शुभाशुभ परिणामों से उत्पन्न होनेवाले सुकृत-दुष्कृतरूप (पुण्य-पापरूप - भले-बुरे कार्यरूप) कार्यों से संन्यास की विधि का कथन है।

बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह के त्यागरूप लक्षण से लक्षित (पहिचाने जानेवाले) परमजिनयोगीश्वरों के चरणकमलों का प्रक्षालन, पैरों का दबाना आदि वैयावृत्ति

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०६५-१०६६

करने से उत्पन्न होनेवाली शुभपरिणति से उपार्जित पुण्यकर्म (शुभकर्म) को तथा हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहसंबंधी परिणामों से उत्पन्न होनेवाले अशुभकर्म (पापकर्म) को; सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर के शिखामणि मुनिराज छोड़ते हैं; क्योंकि ये दोनों शुभाशुभ पुण्य-पापकर्म संसाररूपी स्त्री के विलास के विभ्रम की जन्मभूमि के स्थान हैं।

शुभाशुभकर्म को, पुण्य-पाप के भावों को छोड़नेवाले परम वीतरागी सन्तों के केवलीमत सम्मत, सामायिक व्रत नित्य है।”

उक्त गाथा और उसकी टीका के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

“सामायिक कहो, समाधि कहो या आत्मशान्ति कहो - सभी एकार्थवाची है। समस्त शुभाशुभभाव तो नये कर्मबंध में कारण हैं, उन्हें छोड़कर आत्मा में एकाग्र होना सामायिक है। पुण्य-पापभाव में तो शान्ति है ही नहीं, उसके फल में भी शान्ति नहीं है।”

यहाँ पुण्य की बात में भी लोकोत्तर मुनिराज की सेवा-भक्ति की बात ली है, लौकिक सेवा की बात नहीं की। मुनिराज तो धर्म के उत्कृष्ट निमित्त हैं, इसलिए यहाँ मुनिराज की उत्कृष्ट बात ही ली है।

गृहस्थ तो मुनिराज की सेवा-भक्ति करते ही हैं; परन्तु एक मुनिराज भी दूसरे मुनिराज की सेवा करते हैं, पैर दबाते, शरीर साफ करते इत्यादि अनेक प्रकार से वैयावृत्ति करते हैं, यह भी शुभराग ही है। इस राग की कीमत मात्र इतनी ही है कि संसार में पुण्य मिले; परन्तु इस राग में आत्मा की शान्ति नहीं है।”

गृहस्थ दशा में हो और महावीतरागी मुनिराज के प्रति भक्ति का भाव न आवे तो वह स्वच्छन्दी है और उस शुभभाव में ही धर्म मान ले तो वह भी अज्ञानी ही है।”

हिंसादि अशुभभाव तथा भक्त्यादि शुभभाव - ये दोनों ही भाव संसाररूपी स्त्री के विलास विभ्रम की जन्मभूमि है। अर्थात् पुण्य-पाप दोनों से समता उत्पन्न नहीं होती, परन्तु परिभ्रमणरूपी स्त्री के विलास का जन्म होता है।

तात्पर्य यह है कि पुण्य-पाप दोनों का फल संसार है और चिदानन्दस्वभावी शुद्धकारण परमात्मा का फल परम समता है - ऐसा जानकर स्वभाव में एकाग्रता करना सामायिक है। जिसे देह से भिन्न चैतन्य का भान नहीं है, उसे सामायिक नहीं होता।”

गाथा और उसकी टीका में यही कहा गया है कि देव-शास्त्र-गुरु की भक्ति आदि के शुभभावों से उत्पन्न पुण्य और हिंसादि पापभावों से उत्पन्न होनेवाले पाप - इन दोनों भावों से विरक्त-रहित सन्तों के नित्य सामायिक ही है - ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

(क्रमशः)

१. नियमसार प्रवचन, पृष्ठ १०६८-१०६९

२. वही, पृष्ठ १०६९-१०७०

३. वही, पृष्ठ १०७०

४. वही, पृष्ठ १०७०-१०७१